

Chapter बाईस

कर्दममुनि तथा देवहूति का परिणय

मैत्रेय उवाच

एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।
सब्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—महान् साधु मैत्रेय ने; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; आविष्कृत—वर्णन कर लेने के पश्चात्; अशेष—समस्त; गुण—विशेषताओं की; कर्म—कार्यों की; उदयः—महानता; मुनिम्—महर्षि; स-ब्रीडः—संकोचवश; इव—मानो; तम्—वह (कर्दम); सम्राट्—राजा मनु; उपारतम्—मौन; उवाच ह—बोला ।

श्रीमैत्रेय ने कहा—सम्राट के अनेक गुणों तथा तथा कार्यों की महानता का वर्णन करने के पश्चात् मुनि शान्त हो गये और राजा ने संकोचवश उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया ।

मनुरुवाच

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

मनुः—मनु ने; उवाच—कहा; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; असृजत्—उत्पन्न किया; स्व-मुखतः—अपने मुख से; युष्मान्—आपको (ब्राह्मणों को); आत्म-परीप्सया—अपनी रक्षा के लिए विस्तार करके; छन्दः-मयः—वेदरूप; तपः-विद्या-योग-युक्तान्—तप, ज्ञान तथा योग से युक्त; अलम्पटान्—इन्द्रिय-तृप्ति से विमुख ।

मनु ने कहा—वेदस्वरूप ब्रह्मा ने वैदिक ज्ञान के विस्तार हेतु अपने मुख से आप जैसे ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है, जो तप, ज्ञान तथा योग से युक्त और इन्द्रियतृप्ति से विमुख हैं ।

तात्पर्य : वेदों का उद्देश्य परम सत्य के दिव्य ज्ञान का प्रसार है । ब्राह्मणों की उत्पत्ति परम पुरुष के मुख से हुई, फलतः उनका कार्य वेद-ज्ञान का प्रसार करना है, जिससे भगवान् की महिमा का प्रसार हो । *भगवद्गीता* में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि समस्त वेद पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने के लिए हैं । यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है (*योगयुक्तानलम्पटान्*) कि ब्राह्मण योगयुक्त होते हैं और इन्द्रिय-तृप्ति से अनासक्त । वास्तव में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं । एक तो इस भौतिक संसार में इन्द्रियों की तृप्ति और दूसरी वृत्ति आध्यात्मिक अर्थात् ईश्वर का गुणगान करके उन्हें प्रसन्न करना । जो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहते हैं, वे असुर कहलाते हैं

और जो भगवान् के यश को फैलाते हैं या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं, वे देवता कहे जाते हैं। यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण उस विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न हुए; इसी प्रकार क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनके कटि भाग से तथा शूद्र उनके पाँवों से उत्पन्न बताये गये हैं। ब्राह्मण तप, विद्या तथा ज्ञान के निमित्त उत्पन्न किये गये। वे समस्त प्रकार के विषय-भोगों से अनासक्त रहते हैं।

तत्राणायामसृजत्त्वास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्-त्राणाय—ब्राह्मणों की रक्षा के लिए; असृजत्—उत्पन्न किया; च—तथा; अस्मान्—हमको (क्षत्रिय); दोः-सहस्रात्—उनका हजार भुजाओं से; सहस्र-पात्—हजार पाँव वाले परम पुरुष (विराट रूप); हृदयम्—हृदय; तस्य—उसका; हि—अतः; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; अङ्गम्—भुजाएँ; प्रचक्षते—कहे जाते हैं।

ब्राह्मणों की रक्षा के लिए सहस्र-पाद विराट पुरुष ने हम क्षत्रियों को अपनी सहस्र भुजाओं से उत्पन्न किया। अतः ब्राह्मणों को उनका हृदय और क्षत्रियों को उनकी भुजाएँ कहते हैं।

तात्पर्य : क्षत्रिय विशेषतया ब्राह्मणों की सुरक्षा के निमित्त हैं, क्योंकि यदि ब्राह्मण सुरक्षित रहेंगे तो सभ्यता के मस्तिष्क की रक्षा होती है। ब्राह्मणों को सामाजिक शरीर का मस्तिष्क माना जाता है। यदि मस्तिष्क विमल रहे और पगलाये नहीं तो सब कुछ ठीक रहता है। भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*नमो ब्रह्मण्य-देवाय गो-ब्राह्मण हिताय च*। इस स्तुति का सारांश यह है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा गायों की विशेष रक्षा करते हैं और तब समाज के अन्य समस्त सदस्यों (जगद्-धिताय) की। उनकी इच्छा है कि गो तथा ब्राह्मणों की रक्षा पर ही विश्व का कल्याण निर्भर है। इस प्रकार ब्राह्मण-संस्कृति तथा गो-रक्षा ये दोनों मानव सभ्यता के मूल सिद्धान्त हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणों की रक्षा के निमित्त होते हैं जैसाकि भगवान् की इच्छा है—*गो-ब्राह्मण हिताय च*। जिस प्रकार शरीर के भीतर हृदय अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है उसी प्रकार से ब्राह्मण मानव-समाज के महत्वपूर्ण अवयव हैं। क्षत्रिय सम्पूर्ण शरीर के समान हैं। जिस प्रकार हृदय की तुलना में शरीर भारी अवश्य होता है, किन्तु महत्वपूर्ण हृदय ही होता है।

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।

रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; हि—निश्चय ही; अन्योन्यम्—परस्पर; आत्मानम्—स्वयं; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; च—तथा; रक्षतः—रक्षा करते हैं; रक्षति स्म—रक्षा करता है; अव्ययः—निर्विकार; देवः—भगवान्; सः—वह; यः—जो; सत्-असत्-आत्मकः—कार्य-कारण रूप।

इसीलिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे की और साथ ही स्वयं की रक्षा करते हैं।

कार्य-कारण रूप तथा निर्विकार होकर भगवान् स्वयं एक दूसरे के माध्यम से उनकी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम का समूचा सामाजिक ढाँचा सहयोग पर निर्भर है और सबों को आत्मबोध के उच्च पद तक उठाने के निमित्त है। ब्राह्मणों की रक्षा क्षत्रियों द्वारा की जानी चाहिए और ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों को ज्ञान दिया जाना चाहिए। जब ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सहयोग से रहते हैं, तो अन्य गौण विभाग, यथा वैश्य तथा शूद्र भी स्वयमेव फलते-फूलते हैं। फलतः वैदिक समाज की समग्र विकास प्रक्रिया ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की महत्ता पर आश्रित थी। वास्तविक त्राता तो भगवान् ही हैं, किन्तु वे रक्षा कार्य से विरत रहते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिए क्षत्रिय और क्षत्रियों की रक्षा के लिए ब्राह्मण उत्पन्न किया। वे समस्त गतिविधियों से विलग रहने वाले हैं इसीलिए उन्हें निर्विकार कहा गया है। उन्हें कुछ भी नहीं करना होता। वे इतने महान् हैं कि वे कोई कार्य स्वयं नहीं करते वरन् उनकी शक्तियाँ कार्य करती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य जो कुछ दीखता है वे उनकी शक्तियों के परिणाम हैं।

यद्यपि आत्माएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु परमात्मा तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। व्यष्टि रूप से व्यक्ति का 'आत्मा' गुणों में अन्यो से कुछ-कुछ भिन्न हो सकता है और भिन्न कार्य भी कर सकता है यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सम्बन्ध में, किन्तु जब इन विभिन्न आत्माओं में पूर्ण सहयोग (समन्वय) होता है, तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक आत्मा में आसीन रहते हुए उन्हें रक्षा प्रदान करने में प्रसन्न होते हैं हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ब्राह्मण भगवान् के मुख से तथा क्षत्रिय उनके वक्षस्थल या बाहुओं से उत्पन्न हुए हैं। यदि विभिन्न

जातियाँ या सामाजिक विभाग भिन्न-भिन्न कार्यों में रत होकर भी पूर्ण सहयोग स्थापित रखते हैं, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों की संस्थापना का मन्तव्य यही है। यदि विभिन्न आश्रमों तथा वर्णों के सदस्य कृष्ण-भक्ति में परस्पर सहयोग करें तो इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् द्वारा समाज पूर्णतया संरक्षित हो जाय।

भगवद्गीता में कहा गया है कि भगवान् समस्त देहों के स्वामी हैं। प्रत्येक जीव अपने-अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा है, “हे भारत! तुम्हें ज्ञात हो कि मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।” क्षेत्रज्ञ का अर्थ है, “शरीर का ज्ञाता अथवा स्वामी।” प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु श्रीभगवान् कृष्ण परमात्मा हैं, वे सर्वत्र समस्त शरीरों के स्वामी हैं। वे न केवल इस लोक के वरन् अन्य लोकों के मनुष्यों के ही नहीं वरन् पशु-पक्षी तथा अन्य जीवों के शरीरों के स्वामी हैं। वे परम स्वामी हैं फलतः पृथक्-पृथक् जीवों की रक्षा करते हुए भी वे विभक्त नहीं होते। वे एक ही रहते हैं। मध्याह्न के समय जब सूर्य सबों के सिर के ऊपर दिखता है, तो वह विभक्त नहीं होता। एक मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर के ऊपर है, किन्तु पाँच हजार मील दूसरा मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर पर है। इसी तरह परमात्मा एक है, परन्तु वह प्रत्येक शरीर के भीतर दिखाई पड़ता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा (जीव) तथा परमात्मा एक हैं। आत्मा होने के कारण वे गुण में समान हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

तव सन्दर्शनादेव च्छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।

यत्स्वयं भगवान्प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तव—आपके; सन्दर्शनात्—दर्शन से; एव—केवल; च्छिन्नाः—दूर हो गये; मे—मेरे; सर्व-संशयाः—सारे सन्देह; यत्—यहाँ तक कि; स्वयम्—स्वतः; भगवान्—आपने; प्रीत्या—प्रीतीपूर्वक; धर्मम्—कर्तव्य; आह—बतलाया; रिरक्षिषोः—अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा का।

अब आपके दर्शन मात्र से मेरे सारे सन्देह दूर हो चुके हैं, क्योंकि आपने कृपापूर्वक अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा के कर्तव्य की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

तात्पर्य : मनु ने यहाँ परम साधु पुरुष के दर्शन करने के फल का वर्णन किया है। भगवान्

चैतन्य का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि सदैव साधु पुरुषों की संगति करे, क्योंकि एक क्षण की भी सुसंगति से सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यदि किसी प्रकार से साधु पुरुष से भेंट हो जावे और उसकी कृपा प्राप्त हो ले तो मनुष्य-जीवन का सारा उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। मनु के इस कथन का हमारा व्यक्तिगत अनुभव वास्तविक प्रमाण है। एक बार हमें विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ और उन महानुभाव ने पहली भेंट में ही हमें पाश्चात्य देशों में अपने सन्देश का प्रचार करने के लिए निवेदन किया। इसके लिए कोई तैयारी न थी, किन्तु चूँकि उनकी इच्छा थी, उनकी कृपा से उनके आदेश के पालन में हम लगे हुए हैं। इससे हमें दिव्य कार्य मिला और उन्होंने हमें भौतिक वृत्तियों के कार्य-व्यापारों से उबार लिया। अतः यह सच है कि यदि ऐसे साधु पुरुष से भेंट हो जाय जो दिव्य कार्यों में ही अनुरक्त हों और यदि उनकी कृपा हो जाय, तो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। जो हजारों जीवनों में भी प्राप्त नहीं हो पाता वह साधु पुरुष की एक क्षण की संगति से प्राप्त हो जाता है। अतः वैदिक साहित्य में यह आदेश है कि सदैव साधु पुरुष की संगति करनी चाहिए और सामान्य मनुष्य से अपने को अलग ही रखना चाहिए, क्योंकि साधु पुरुष के एक शब्द से ही भौतिक बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। साधु पुरुष अपनी अध्यात्मिक उन्नति के कारण शक्तिसम्पन्न होता है और वह बद्धजीव को तुरन्त मुक्ति दिला सकता है। यहाँ पर मनु स्वीकार करते हैं कि कर्दम मुनि द्वारा कृपापूर्वक विभिन्न जीवों के कर्तव्यों का वर्णन करने के कारण उनके समस्त संशय दूर हो चुके हैं।

दिष्ट्या मे भगवान्दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।

दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; मे—मेरा; भगवान्—सर्व शक्तिमान; दृष्टः—देखा जाता है; दुर्दर्शः—सरलता से न दिखने वाला; यः—जो; अकृत-आत्मनाम्—जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया; दिष्ट्या—अपने भाग्य से; पाद-रजः—पैरों की धूलि; स्पृष्टम्—स्पर्श करने पर; शीर्ष्णा—शिर से; मे—मेरा; भवतः—आपका; शिवम्—कल्याणकारी।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपके दर्शन हो सके क्योंकि जिन लोगों ने अपने मन

तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया उन्हें आपके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं आपके चरणों की धूलि को शिर से स्पर्श करके और भी कृतकृत्य हुआ हूँ।

तात्पर्य : दिव्य जीवन की पूर्णता पवित्र पुरुष के चरणकमलों की पवित्र धूल का स्पर्श करके प्राप्त की जा सकती है। *भागवत* में कहा गया है—*महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्* अर्थात् महत् अथवा महान् भक्त के चरणों की पवित्र धूल से अभिषिक्त। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है—*महात्मानस्तु*—महान् पुरुष आत्मिक शक्ति के वश में रहते हैं और उनका लक्षण यह है कि वे कृष्ण-भावनामृत में पूरी तरह से लीन रहते हैं। इसीलिए महत् कहलाते हैं। जब तक महात्मा के चरणों की धूलि को कोई अपने शिर पर चढ़ा नहीं लेता, तब तक आत्म-जीवन में सिद्धि मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

आत्म-उन्नति के लिए शिष्य-परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य अपने महत् गुरु की कृपा से ही महत् बनता है। यदि कोई किसी महापुरुष के चरणों की शरण ग्रहण करता है, तो उसके महान् बनने की काफी सम्भावना रहती है। जब महाराज रहूगण ने जड़ भरत से उनकी अद्भुत आत्म-उन्नति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो उन्होंने राजा को उत्तर दिया कि केवल धार्मिक कर्मकाण्डों का पालन करने या केवल संन्यासी बनने अथवा शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करने से ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं मिलती। ये विधियाँ निस्सन्देह आत्म-बोध में सहायक होती हैं, किन्तु वास्तविक प्रभाव तो महात्मा की कृपा से पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की स्तुति में आठ श्लोक लिखे हैं। उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुरु को केवल प्रसन्न करने से जीवन में परम सफलता प्राप्त होती है और समस्त अनुष्ठानों को करते हुए भी यदि कोई गुरु को प्रसन्न नहीं कर पाता तो उसकी आत्मसिद्धि तक पहुँच नहीं हो पाती। यहाँ पर *अकृतात्मनाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आत्मा के अर्थ हैं शरीर, आत्मा अथवा मन और अकृतात्मा का अर्थ है सामान्य व्यक्ति, जो अपनी इन्द्रियों या मन को वश में नहीं रख पाता। इसीलिए सामान्य व्यक्ति को महापुरुष या भगवान् के परम भक्त की शरण ढूँढनी चाहिए और उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन पूर्ण हो सकेगा। मात्र अनुष्ठानों एवं धार्मिक

सिद्धान्तों के पालन से सामान्य व्यक्ति आत्मिक-सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी होगी और उसके निर्देशन में श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ कार्य करना होगा। तभी वह सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।

अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्यवश; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुशिष्टः—उपदेशित; अहम्—मैं; कृतः—प्रदान किया हुआ; च—और; अनुग्रहः—कृपा; महान्—महान; अपावृतैः—खुले; कर्ण-रन्ध्रैः—कानों के छिद्रों से; जुष्टाः—ग्रहण किया गया; दिष्ट्या—भाग्य से; शतीः—शुद्ध; गिरः—शब्द।

सौभाग्य से मुझे आपके द्वारा उपदेश प्राप्त हुआ है और इस प्रकार आपने मेरे ऊपर महती कृपा की है। मैं भगवान् को धन्यवाद देता हूँ कि मैं अपने कान खोलकर आपके विमल शब्दों को सुन रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *भक्तिरसासृत-सिन्धु* में निर्देश दिये हैं कि किस प्रकार प्रामाणिक गुरु ग्रहण किया जाय और उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। पहले इच्छुक व्यक्ति को प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और तब अत्यन्त उत्सुकता के साथ उपदेश प्राप्त करना चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। यह दोतरफ़ी (पारस्परिक) सेवा है। प्रामाणिक गुरु या साधु पुरुष सदैव अपने पास आने वाले को ऊपर उठाने के लिए इच्छुक रहते हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति माया के मोहसे वशीभूत है और वह अपने मुख्य कर्तव्य, कृष्ण-भक्ति, को भूलता रहता है, अतः साधु-पुरुष चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति संत स्वरूप बन जाय। प्रत्येक साधु पुरुष का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक भुलकड़ सामान्य पुरुष में कृष्णभक्ति जागृत करे।

मनु ने कहा चूँकि कर्दम मुनि से उन्हें उपदेश प्राप्त हुआ, अतः वह कृतकृत्य हो गया। कानों से सन्देश प्राप्त करके वह अपने को भाग्यशाली मान रहा है। यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से कान खोलकर सन्देश सुनना चाहिए। लेकिन इसे कैसे प्राप्त किया जाय? मनुष्य को कानों से दिव्य सन्देश ग्रहण करना चाहिए। *कर्ण-रन्ध्रैः* शब्द का अर्थ

है “कान के छेदों के माध्यम से।” गुरु की कृपा शरीर के अन्य किसी भाग से न प्राप्त होकर केवल कानों से प्राप्त होती है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि गुरु कुछ धन लेकर बदले में कान में कोई मन्त्र दे जिसके ध्यान से छह महीनों में ही सिद्धि प्राप्त करके ईश्वर बना जा सकता है। कान से ऐसी ग्राह्यता नकली है। वास्तविकता तो यह है कि प्रामाणिक गुरु जानता रहता है कि मनुष्य किस प्रकार का है और कृष्ण-भावनामृत में वह कैसे कार्य कर सकता है, अतः वह उसी प्रकार से उसे उपदेश देता है। वह उसे कान में चुपके से नहीं वरन् सबों के समक्ष उपदेश देता है, “तुम कृष्णभक्ति में अमुक अमुक कार्य के लिए उपयुक्त हो। तुम इस प्रकार कार्य कर सकते हो।” किसी व्यक्ति को श्रीविग्रह के कमरे में कृष्णभक्ति करने को कहा जा सकता है, तो दूसरे को साहित्य-सम्पादन कार्य करने को, तीसरे को उपदेश देने और अन्य किसी को रसोईघर का प्रबन्ध करने को कहा जा सकता है। कृष्णभक्ति में कार्य करने के लिए भिन्न-भिन्न विभाग हैं और गुरु व्यक्ति-विशेष की क्षमता को जानते हुए उसे इस प्रकार शिक्षा देता है कि वह पूर्ण बन सके। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार सेवा करके आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है, जिस प्रकार अर्जुन ने अपने सैन्य-कौशल से कृष्ण की सेवा की। अर्जुन एक सैनिक की भाँति अपनी सेवाएँ अर्पित करके पूर्ण बन सका। इसी प्रकार कोई कलाकार अपने गुरु के निर्देशन में कलात्मक कार्य करते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति साहित्य में रुचि रखता है, तो वह गुरु के निर्देशन में लेख अथवा कविताओं की रचना करके भगवान की सेवा कर सकता है। मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने के सम्बन्ध में अपने गुरु से सन्देश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि गुरु ऐसा उपदेश देने में पटु होता है।

गुरु द्वारा उपदेश और शिष्य द्वारा निष्ठापूर्वक उसका पालन के संयोग से समूची प्रणाली पूर्ण बन जाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के इस श्लोक—व्यवसायात्मिका बुद्धिः—की व्याख्या में कहते हैं कि जो आत्मिक उन्नति चाहता है उसे चाहिए कि अपने गुरु से आदेश प्राप्त करे कि उसका विशेष कार्य क्या है। उसे विशेष उपदेश को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न

करना चाहिए और उसी को अपना सर्वस्व समझना चाहिए। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने गुरु से प्राप्त उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करे। इसीसे उसे सिद्धि मिलेगी। मनुष्य को कानों से गुरु का सन्देश ग्रहण करने में सतर्क रहना चाहिए और उसे श्रद्धापूर्वक निष्पन्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा।

स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—आप; भवान्—आप; दुहितृ-स्नेह—अपनी पुत्री के स्नेहवश; परिक्लिष्ट-आत्मनः—क्षुब्ध मन वाला; मम—मेरा; श्रोतुम्—सुनने के लिए; अर्हसि—प्रसन्न हों; दीनस्य—मुझ दीन की; श्रावितम्—प्रार्थना को; कृपया—कृपापूर्वक; मुने—हे मुनि।

हे मुनि, कृपापूर्वक मुझ दीन की प्रार्थना सुनें, क्योंकि मेरा मन अपनी पुत्री के स्नेह से अत्यन्त उद्विग्न है।

तात्पर्य : जब कोई शिष्य अपने गुरु से कोई संदेश प्राप्त करके उसे निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर लेता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपने गुरु से चाहे जिस प्रकार के अनुग्रह के लिए याचना करे। सामान्य रूप से भगवान् का शुद्ध भक्त अथवा प्रामाणिक गुरु का शुद्ध शिष्य भगवान् या गुरु से किसी अनुग्रह की याचना नहीं करता, किन्तु यदि कभी गुरु से किसी प्रकार का अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यकता आ पड़े तो जब तक वह उन्हें पूर्णतया प्रसन्न न कर ले तब तक उसकी याचना नहीं कर सकता। स्वायंभुव मनु अपनी पुत्री के स्नेह के कारण अपने मन की बात प्रकट करना चाह रहे थे कि वे कौन सा काम कराना चाहते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत-उत्तानपदोः—प्रियव्रत तथा उत्तानपद की; स्वसा—बहन; इयम्—यह; दुहिता—पुत्री; मम—मेरी; अन्विच्छति—खोज रही है; पतिम्—पति या वर; युक्तम्—अनुकूल; वयः-शील-गुण-आदिभिः—आयु, चरित्र, गुण आदि से।

मेरी पुत्री प्रियव्रत तथा उत्तानपाद की बहन है। वह आयु, शील, गुण आदि में अपने

अनुकूल पति की तलाश में है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की युवा पुत्री देवहूति का चरित्र उत्तम था और वह योग्य भी थी, अतः वह अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल पति की खोज में थी। मनु द्वारा अपनी पुत्री को प्रियव्रत तथा उत्तानपाद इन दो महान् राजाओं की बहन के रूप में परिचित कराने का उद्देश्य था मुनि को आश्चस्त करना कि कन्या उच्च कुल की है। वह उनकी पुत्री है और साथ ही क्षत्रियों की बहन है, वह निम्न वर्ग की नहीं है। अतः मनु ने कर्दम को उपयुक्त समझ कर उसे अपनी पुत्री को सौंप देना चाहा। यह स्पष्ट है कि यद्यपि देवहूति आयु तथा गुणों में वयस्क थी, किन्तु वह स्वतः पति का चुनाव करने के लिए वहाँ नहीं गई। उसने अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल उपयुक्त पति के लिए इच्छा व्यक्त की और पिता ने स्नेहवश उसके लिए ऐसा पति ढूँढने का भार अपने ऊपर ले लिया।

यदा तु भवतः शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।

अश्रृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; भवतः—तुम्हारा; शील—उत्तम चरित्र; श्रुत—विद्या; रूप—सुन्दर आकार, सूरत; वयः—युवावस्था; गुणान्—गुण; अश्रृणोत्—सुना; नारदात्—नारद मुनि से; एषा—देवहूति ने; त्वयि—तुममें; आसीत्—हो गयी; कृत-निश्चया—दृढ़ संकल्प।

जब से इसने नारद मुनि से आपके उत्तम चरित्र, विद्या, रूप, वय (आयु) तथा अन्य गुणों के विषय में सुना है तब से यह अपना मन आपमें स्थिर कर चुकी है।

तात्पर्य : देवहूति ने न तो स्वतः कर्दम मुनि को देखा था और न उसे उनके शील या गुण के विषय में कोई व्यक्तिगत अनुभव था, क्योंकि ऐसा कोई सामाजिक समागम न था जिससे उसे ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकती। किन्तु उसने नारद मुनि से कर्दम मुनि के सम्बन्ध में सुन रखा था। किसी अधिकारी से सुनना व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त करने से कहीं श्रेष्ठ है। उसने नारद मुनि से सुना था कि कर्दम मुनि उसके पति होने के योग्य हैं। अतः उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वह उन्हीं से ब्याह करेगी। उसने अपने पिता से अपना मन्तव्य प्रकट किया जिन्होंने उसे लाकर यहाँ उपस्थित किया।

तत्प्रतीच्छ द्विजाच्छयेमां श्रद्धयोपहतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; प्रतीच्छ—कृपया स्वीकार करें; द्विज-अछय—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; इमाम्—इसको; श्रद्धया—श्रद्धा से; उपहताम्—भेंट स्वरूप प्रदत्त; मया—मेरे द्वारा; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; अनुरूपाम्—उपयुक्त; ते—तुम्हारे लिए; गृह-मेधिषु—गृहस्थी में; कर्मसु—कर्म, कर्तव्य ।

अतः हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप इसे स्वीकार करें, क्योंकि मैं इसे श्रद्धापूर्वक अर्पित कर रहा हूँ। यह सभी प्रकार से आपकी पत्नी होने और आपकी गृहस्थी के कार्यों को चलाने में सर्वथा योग्य है।

तात्पर्य : गृहमेधिषु कर्मसु शब्दों का अर्थ है “गृहस्थोचित कार्यों में।” यहाँ एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—सर्वात्मनानुरूपाम्। इसका सारांश यह है कि पत्नी को आयु, चरित्र तथा गुणों में न केवल पति के समान होना चाहिए किन्तु गृहस्थी के कार्यों में भी सहायक होना चाहिए। मनुष्य का गृहस्थोचित कार्य केवल इन्द्रियतृप्ति ही नहीं वरन् पत्नी, सन्तानों के साथ रहते हुए आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करना है। जो ऐसा नहीं करता वह गृहस्थ नहीं वरन् गृहमेधी है। संस्कृत साहित्य में दो शब्द प्रयुक्त मिलते हैं—एक है गृहस्थ और दूसरा गृहमेधी है। गृहस्थ एक आश्रम भी है, किन्तु यदि कोई गृहस्थ होकर केवल इन्द्रियों की तुष्टि करता है, तो वह गृहमेधी है। गृहमेधी के लिए पत्नी बनाने का अर्थ इन्द्रियों की तुष्टि करना है, किन्तु गृहस्थ के लिए योग्य पत्नी आध्यात्मिक कार्यों में उन्नति के लिए सब प्रकार से सहायक के रूप में होती है। पत्नी का कर्तव्य है कि वह गृहस्थी के सारे कार्यों को सँभाले, न कि पति से स्पर्धा करे। पत्नी सहायता करने के निमित्त होती है, किन्तु वह अपने पति की तब तक सहायता नहीं कर सकती जब तक वह आयु, शील तथा गुण में उसके समान न हो।

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

उद्यतस्य—स्वयं प्राप्त; हि—निस्सन्देह; कामस्य—भौतिक इच्छा का; प्रतिवादः—निरादर; न—नहीं; शस्यते—प्रशंसनीय; अपि—यद्यपि; निर्मुक्त—स्वतन्त्र; सङ्गस्य—आसक्ति का; काम—इन्द्रिय-सुख के प्रति; रक्तस्य—आसक्त का; किम् पुनः—क्या कहना है।

स्वतः प्राप्त होने वाली भेंट का निरादर नितान्त विरक्त पुरुष के लिए भी प्रशंसनीय नहीं है, फिर विषयासक्त के लिए तो कहना ही क्या है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति चाहता है, अतः यदि किसी को बिना प्रयास के ही इन्द्रिय-तृप्ति हो रही हो तो उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए। कर्दम मुनि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं बने थे तो भी वे विवाह करना चाहते थे और उन्होंने उपयुक्त पत्नी के लिए भगवान् से प्रार्थना की थी। यह स्वायंभुव मनु को ज्ञात था। उन्होंने कर्दम मुनि को परोक्ष रूप में यह आश्चस्त किया, “आपको मेरी पुत्री जैसी पत्नी चाहिए और वह आपके समक्ष है। आपको अपनी प्रार्थना की पूर्ति के को अस्वीकार नहीं करना चाहिए; मेरी पुत्री को स्वीकार करना चाहिए।”

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।

क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; उद्यतम्—भेंट; अनादृत्य—अनादर करके; कीनाशम्—कंजूस से; अभियाचते—याचना करता है; क्षीयते—नष्ट होता है; तत्—उसका; यशः—कीर्ति; स्फीतम्—विस्तीर्ण; मानः—सम्मान; च—तथा; अवज्ञया—अवमानना से; हतः—नष्ट।

जो स्वतः प्राप्त भेंट का पहले अनादर करता है और बाद में कंजूस से वर माँगता है, वह अपने विस्तीर्ण यश को खो देता है और अन्यो द्वारा अवमानना से उसका मान भंग होता है।

तात्पर्य : वैदिक ब्याह की सामान्य विधि में पिता अपनी कन्या उपयुक्त वर को सुपुर्द करता है। यही अत्यन्त सम्माननीय विवाह है। वर कन्या के पिता के यहाँ जाकर विवाह की याचना करने नहीं जाना चाहिए। इससे उसके सम्मान को धक्का लगता है। मुनि उपयुक्त कन्या से विवाह करना चाहते थे और स्वायंभुव मनु कर्दम मुनि को आश्चस्त कर देना चाहते थे, “मैं आपको ऐसी ही पत्नी दे रहा हूँ। उसे अस्वीकार न करें, अन्यथा आपको किसी अन्य से

याचना करनी पड़ेगी, क्योंकि आपको उसकी आवश्यकता है और हो सकता है कि वह आपके साथ भद्र व्यवहार न करे। तब आपका मान भंग हो सकता है।”

इस घटना की दूसरी विशेषता यह है कि स्वायंभुव मनु सम्राट होकर भी अपनी योग्य कन्या एक निर्धन ब्राह्मण को भेंट करने गये थे। कर्दम मुनि के कोई गृहस्थी न थी, वे जंगल में कुटी में रह रहे थे, किन्तु सुसंस्कृत थे। अतः किसी व्यक्ति को अपनी कन्या प्रदान करते समय सम्पत्ति या अन्य सांसारिक बातों पर ध्यान न देकर संस्कृति तथा गुण को वरीयता प्रदान की जाती है।

अहं त्वाश्रणवं विद्वन्विवाहार्थं समुद्यतम् ।

अतस्त्वमुपकुर्वाणः प्रत्तां प्रतिगृहाण मे ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैंने; त्वा—तुमको; अश्रणवम्—सुना; विद्वन्—हे बुद्धिमान पुरुष; विवाह-अर्थम्—विवाह हेतु; समुद्यतम्—तैयार; अतः—अतएव; त्वम्—तुम; उपकुर्वाणः—आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत न लेने के कारण; प्रत्ताम्—भेंट किया गया; प्रतिगृहाण—कृपया स्वीकार कीजिये; मे—मेरा।

स्वायंभुव मनु ने कहा—हे विद्वान, मैंने सुना है कि आप ब्याह के इच्छुक हैं। कृपया मेरे द्वारा दान में दी जाने वाली (अर्पित) कन्या को स्वीकार करें, क्योंकि आपने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा है।

तात्पर्य : कुँवारा रहना ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—एक तो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, जो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहता है और दूसरा उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी जो एक निश्चित आयु तक ब्रह्मचारी रहता है। उदाहरणार्थ, कोई पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर अपने गुरु की आज्ञा से विवाहित जीवन में प्रवेश कर सकता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी जीवन है और आध्यात्मिक आश्रम में प्रवेश का शुभारम्भ है। केवल गृहस्थ ही इन्द्रिय-तुष्टि या विषय-भोग में लिप्त रह सकता है, ब्रह्मचारी नहीं। स्वायंभुव मनु ने कर्दम मुनि से अपनी कन्या को स्वीकार करने के लिए इसीलिए प्रार्थना की, क्योंकि कर्दम ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा था। वे विवाह करने के इच्छुक थे और उन्हें राजपरिवार की योग्य कन्या मिल रही थी।

ऋषिरुवाच

बाढमुद्गोदुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा ।

आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—परम साधु कर्दम ने; उवाच—कहा; बाढम्—एवमस्तु; उद्गोदु-कामः—विवाह का इच्छुक; अहम्—मैं;
अप्रत्ता—अन्य किसी से वचनबद्ध न होना; च—तथा; तव—तुम्हारी; आत्म-जा—पुत्री; आवयोः—हम दोनों का;
अनुरूपः—उपयुक्त; असौ—यह; आद्यः—प्रथम; वैवाहिकः—विवाह का; विधिः—अनुष्ठान।

महामुनि ने उत्तर दिया—निस्सन्देह मैं विवाह का इच्छुक हूँ और आपकी कन्या ने न किसी से विवाह किया है और न ही किसी दूसरे को वचन दिया है। अतः वैदिक पद्धति के अनुसार हम दोनों का विवाह हो सकता है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की कन्या को स्वीकार करने के पूर्व कर्दम मुनि के समक्ष विचारणीय बातें अनेक थीं। प्रथम तो यह कि देवहूति ने उन्हीं के साथ विवाह करने का निश्चय कर रखा था। वह अन्य किसी को अपना पति बनाना नहीं चाह रही थी। यह सबसे बड़ी विचारणीय बात थी, क्योंकि जब कोई स्त्री प्रथम दर्शन पर ही किसी पुरुष को अपना मन अर्पित कर देती है, तो उसे वापस लेना कठिन होता है। यही स्त्रियों का मनोविज्ञान है। साथ ही इसके पूर्व उसका विवाह भी नहीं हुआ था; वह कुँवारी थी। इन सब बातों से कर्दम मुनि ने उसे स्वीकार कर लिया। अतः उन्होंने कहा, “हाँ, विवाह के धार्मिक नियमों के अनुसार मुझे आपकी कन्या स्वीकार है।” विवाह के भी कई प्रकार हैं। उत्तम ब्याह वह है, जिसमें उपयुक्त वर को बुलाकर कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित करके तथा पिता की सामर्थ्य के अनुसार दहेज देकर कन्या अर्पित की जाती है। विवाह के अन्य प्रकार भी हैं यथा गंधर्व विवाह तथा प्रेम विवाह। इन्हें भी विवाह माना जाता है। यदि कोई कन्या बलपूर्वक हरी जाकर बाद में पत्नी रूप में स्वीकार कर ली जाती है, तो उसे भी विवाह मानते हैं। किन्तु कर्दम मुनि ने विवाह की उत्तम प्रणाली स्वीकार की, क्योंकि कन्या का पिता चाह रहा था और वह कन्या भी योग्य थी। उसने किसी अन्य के साथ प्रेम नहीं किया था। इन सब बातों से कर्दम मुनि को स्वायंभुव मनु की कन्या को ग्रहण करने के लिए राजी हुए।

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः

पुत्र्याः समाध्नायविधौ प्रतीतः ।

क एव ते तनयां नाद्रियेत

स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कामः—इच्छा; सः—वह; भूयात्—पूरी हो; नर-देव—हे राजा; ते—तुम्हारी; अस्याः—इस; पुत्र्याः—पुत्री का; समाध्नाय-विधौ—वेदोक्त विधि से; प्रतीतः—मान्य; कः—कौन; एव—निस्सन्देह; ते—तुम्हारी; तनयाम्—पुत्री को; न आद्रियेत—आदर (पूजा) नहीं करेगा; स्वया—अपने से; एव—अकेले; कान्त्या—देह की कान्ति (आभा); क्षिपतीम्—तिरस्कृत करती; इव—मानो; श्रियम्—आभूषण।

आप अपनी पुत्री की, वेदों द्वारा स्वीकृत विवाह-इच्छा की पूर्ति करें। उसको कौन नहीं ग्रहण करना चाहेगा? वह इतनी सुन्दर है कि उसकी शारीरिक कान्ति ही उसके आभूषणों की सुन्दरता को मात कर रही है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि देवहूति के साथ शास्त्रोक्त विधि से विवाह करना चाहते थे। वेदोक्त विधि के अनुसार सर्वोत्तम विधि यह है कि दुलहिन के घर दूल्हे को आमन्त्रित करके कन्या-दान किया जाय और साथ में आभूषण, स्वर्ण, साज-सामान तथा अन्य गृहस्थी की वस्तुएँ दहेज रूप में दी जायें। आज भी उच्च वर्ग के हिन्दुओं में ब्याह का यह रूप प्रचलित है और शास्त्रों में इसे कन्या के पिता के लिए अत्यन्त धार्मिक कृत्य कहा गया है। उपयुक्त दामाद को अपनी पुत्री का दान करना (कन्यादान) गृहस्थ का पुण्य कार्य माना जाता है। मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, किन्तु इनमें से अब केवल एक ही विवाह-विधि, ब्रह्म या राजसिक विवाह प्रचलित है। इस कलियुग में अन्य प्रकार के विवाह—यथा प्रेम द्वारा, जयमाला द्वारा, अपहरण द्वारा विवाह वर्जित हैं। पहले क्षत्रिय अपनी इच्छानुसार दूसरे राजपरिवार की राजकुमारी का अपहरण करते थे, फिर उस क्षत्रिय तथा कन्या के परिवार वालों के बीच युद्ध होता था और यदि अपहरणकर्ता विजयी होता था, तो उसे कन्या दे दी जाती थी। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण ने इसी विधि से रुक्मिणी को ब्याहा था और उनके और उनके कुछ पुत्रों तथा पौत्रों ने भी ऐसा ही किया था। श्रीकृष्ण के पौत्र ने दुर्योधन की कन्या का अपहरण किया जिससे कौरवों तथा यादवों में युद्ध हुआ। बाद में कौरव वंश के गुरुजनों ने समझौता करा

दिया। प्राचीनकाल में ऐसे विवाह प्रचलित थे, किन्तु आज के समय में क्षत्रिय जीवन के कठोर नियमों में विघटन हो जाने से ऐसा होना दुष्कर है। चूँकि भारत विदेशों पर आश्रित रहने लगा, फलतः उसकी सामाजिक व्यवस्था छिन्न हो गई और शास्त्रों के अनुसार अब सभी लोग शूद्र हैं। तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों ने अपने पारम्परिक कृत्यों का परित्याग कर दिया है, फलतः वे शूद्र बन चुके हैं। शास्त्रों का कथन है—*कलौ शूद्र संभवः*—इस कलिकाल में सभी शूद्र के समान हैं। इस युग में सनातन सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन नहीं किया जा रहा यद्यपि पिछले समय में उनका कड़ाई से पालन होता था।

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्दिमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; हर्म्य-पृष्ठे—राज प्रासाद की छत पर; क्वणत्-अङ्घ्रि-शोभाम्—उसके चरणों के नूपुरों की ध्वनि से जिसकी सुन्दरता बढ़ी हुई है; विक्रीडतीम्—खेलती हुई; कन्दुक-विह्वल-अक्षीम्—मोहित नेत्रों से अपनी गेंद का पीछा करती; विश्वावसुः—विश्वावसु; न्यपतत्—गिर पड़ा; स्वात्—स्वतः; विमानात्—विमान से; विलोक्य—देखकर; सम्मोह-विमूढ-चेताः—जिसका मन सम्मोहित था।

मैंने सुना है कि आपकी कन्या को महल की छत पर गेंद खेलते हुए देखकर महान् गन्धर्व विश्वावसु मोहवश अपने विमान से गिर पड़ा, क्योंकि वह अपने नूपुरों की ध्वनि तथा चञ्चल नेत्रों के कारण अत्यन्त सुन्दरी लग रही थी।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि आजकल की तरह उस समय भी गगनचुम्बी भवन होते थे। यहाँ पर *हर्म्य-पृष्ठे* शब्द आया है। हर्म्य का अर्थ है, “अत्यन्त विशाल महल।” *स्वाद् विमानात्* का अर्थ है, “अपने विमान से।” इससे लगता है कि उन दिनों में भी व्यक्तिगत विमान या हेलीकाप्टर होते थे। आकाश में उड़ते हुए गन्धर्व विश्वावसु ने देवहूति को अपने महल की छत पर गेंद खेलते देखा। उस काल में गेंद खेलना भी प्रचलित था, किन्तु राजपरिवारों की लड़कियाँ सार्वजनिक स्थान में नहीं खेलती थीं। गेंद खेलना तथा अन्य आमोद-प्रमोद सामान्य स्त्रियों तथा लड़कियों के लिए नहीं थे, ऐसे खेल केवल देवहूति जैसी राजकुमारियाँ ही खेल

सकती थीं। यहाँ यह बताया गया है कि उड़ते विमान से उसे देखा गया। इससे सूचित होता है कि वह महल बहुत ऊँचा था, अन्यथा वह विमान से कैसे देखी जा सकती थी? यह दृश्य इतना स्पष्ट था कि गंधर्व विश्वावसु उसकी सुन्दरता को देखकर तथा उसके नूपुरों की ध्वनि सुनकर सुन्दरता एवं ध्वनि से इतना आकर्षित हुआ कि मोहग्रस्त होकर गिर पड़ा। कर्दम मुनि ने इस घटना को जिस रूप में सुन रखा था, उसका वर्णन कर दिया।

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-

मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।

वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं

को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; प्रार्थयन्तीम्—खोजती हुई; ललना-ललामम्—स्त्रियों के आभूषण; असेवित-श्री-चरणैः—जिन्होंने लक्ष्मी के चरणों की पूजा नहीं की, उनके द्वारा; अदृष्टाम्—न देखी गई; वत्साम्—लाइली पुत्री को; मनोः—स्वायंभुव मनु की; उच्चपदः—उत्तानपाद की; स्वसारम्—बहन; कः—क्या; न अनुमन्येत—आदर नहीं करेगा; बुधः—बुद्धिमान; अभियाताम्—स्वेच्छा से आई हुई।

ऐसा कौन है, जो स्त्रियों में शिरोमणि, स्वायंभुव मनु की पुत्री और उत्तानपाद की बहन का समादर नहीं करेगा? जिन लोगों ने कभी श्रीलक्ष्मी जी के चरणों की पूजा नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन तक नहीं हो सकता, फिर भी यह स्वेच्छा से मेरी अर्द्धांगिनी बनने आई है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने देवहूति की सुन्दरता तथा पात्रता की कई प्रकार से प्रशंसा की है। वस्तुतः देवहूति आभूषणों से भूषित कन्याओं की शिरोमणि थीं। यद्यपि आभूषण पहन कर कन्या सुन्दर बन जाती है, किन्तु देवहूति आभूषणों से भी अधिक सुन्दर थी, वह अलंकृत सुन्दरी कन्याओं की शिरोमणि थी। देवता या गंधर्व उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होते थे। कर्दम मुनि यद्यपि परम साधु थे, वे स्वर्ग के वासी न थे। किन्तु पिछले श्लोक में बताया गया है कि विश्वावसु स्वर्ग का वासी होकर भी देवहूति की सुन्दरता पर मोहित था। अपनी सुन्दरता के साथ ही साथ वह सम्राट स्वायंभुव की पुत्री और राजा उत्तानपाद की बहन थी। भला ऐसी सुन्दरी का पाणि-ग्रहण करने से कौन इनकार करेगा?

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
 यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
 अतो धर्मान्पारमहंस्यमुख्यान्
 शुक्लप्रोक्तान्बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; भजिष्ये—मैं स्वीकार करूँगा; समयेन—शर्त के साथ; साध्वीम्—कुमारी को; यावत्—जब तक; तेजः—वीर्य; बिभृयात्—धारण करे; आत्मनः—मेरे शरीर से; मे—मेरे; अतः—तत्पश्चात्; धर्मान्—कर्तव्य; पारमहंस्य-मुख्यान्—श्रेष्ठ परम हंसों का; शुक्ल-प्रोक्तान्—भगवान् विष्णु द्वारा बताये; बहु—अधिक; मन्ये—मैं विचार करूँगा; अविहिंस्रान्—द्वेष से रहित होकर।

अतः इस कुँवारी को मैं अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करूँगा, किन्तु इस शर्त के साथ कि जब यह मेरा वीर्य धारण कर चुकेगी तो मैं परम सिद्ध पुरुषों के समान भक्ति-योग को स्वीकार करूँगा। इस विधि को भगवान् विष्णु ने बताया है और यह द्वेष रहित है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने सम्राट् स्वायंभुव से अत्यन्त सुन्दरी पत्नी के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की और सम्राट् की पुत्री से विवाह करना स्वीकार कर लिया। कर्दम मुनि आश्रम में रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। यद्यपि उसके मन में विवाह करने की इच्छा थी, किन्तु वे आजीवन गृहस्थ जीवन भी नहीं बिताना चाह रहे थे, क्योंकि वे मनुष्य जीवन के वैदिक सिद्धान्तों से पूर्णतया भिन्न थे। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक भाग को चरित्र (शील) तथा गुणों के विकास के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य में बिताना चाहिए। जीवन के बाद वाले भाग में वह विवाह करके सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि कुत्तों-बिल्लियों की भाँति सन्तान उत्पन्न न करे।

कर्दम मुनि ऐसी संतान उत्पन्न करना चाहते थे, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की एक किरण हो। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी सन्तान उत्पन्न करे जो भगवान् विष्णु की सेवा कर सके, अन्यथा कोई सन्तान न जने। उत्तम पिता के दोनों प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होती हैं—एक तो वे जो कृष्णभक्ति में प्रशिक्षित हों जिससे उसी जीवन में माया के बंधन से मुक्त हो सकें और दूसरी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की किरण होती हैं, जो विश्व भर को जीवन के परम लक्ष्य

की शिक्षा देती हैं। आगे के अध्यायों में बताया जाएगा कि कर्दम मुनि के ऐसा ही पुत्र, कपिल, उत्पन्न हुआ जो भगवान् का अवतार था और जिसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। बड़े-बड़े गृहस्थ भगवान् से प्रार्थना करते रहते हैं कि वे अपना प्रतिनिधि भेजें जिससे मानव समाज में एक कल्याणकारी अभियान चलने लगे। सन्तान उत्पन्न करने का एक कारण यह है। दूसरा कारण यह है कि अत्यन्त प्रबुद्ध माता-पिता अपनी सन्तान को कृष्णभक्ति की शिक्षा देते हैं जिससे इस दुखमय संसार में उसका फिर से आना न हो। माता-पिता का यह उत्तरदायित्व है कि बच्चे को फिर से किसी माँ के गर्भ में न लौटना पड़े। यदि इसी जीवन में बच्चे को मुक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती तो न तो ब्याह करने की और न सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है। यदि मानव समाज में सामाजिक व्यवस्था को भंग करने के लिए कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न की जावें तो यह संसार नरक बन जायेगा जैसाकि इस कलियुग में हो रहा है। इस युग में न तो माता-पिता, न ही सन्तानें प्रशिक्षित हैं। दोनों ही पशु सदृश हैं और वे केवल खाते, सोते, संभोग करते, रक्षा करते और अपनी इन्द्रियों को ही तुष्टि देते हैं। सामाजिक जीवन की इस अव्यवस्था से मानव समाज में शान्ति नहीं लाई जा सकती। कर्दम मुनि ने पहले ही यह बता दिया कि वे देवहूति के साथ आजीवन नहीं रह पावेंगे। वे उसके साथ तभी तक रहेंगे जब तक कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हो जाती। दूसरे शब्दों में, विषयी जीवन का सदुपयोग उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में होना चाहिए, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। मनुष्य जीवन भगवान् की पूर्ण भक्ति करने के लिए है। यही भगवान् चैतन्य का दर्शन है।

उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के बाद मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए और सिद्धि की परमहंस अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। *परमहंस* जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। संन्यास जीवन में चार अवस्थाएँ होती हैं जिनमें *परमहंस* सर्वोच्च अवस्था है। *श्रीमद्भागवत* को परमहंस संहिता कहते हैं, जो उच्च श्रेणी के मनुष्यों के हेतु ग्रंथ है। परमहंस द्वेषमुक्त होता है। अन्य अवस्थाओं में, यहाँ तक गृहस्थ जीवन में भी स्वार्थ और द्वेष पाया जाता है, किन्तु परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनामृत में पूर्णतया अनुरक्त रहता है, अतः द्वेष के लिए कोई

स्थान नहीं रहता। कर्दम मुनि की ही तरह लगभग १०० वर्ष पूर्व ठाकुर भक्तिविनोद भी ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो भगवान् चैतन्य के दर्शन तथा उपदेशों का प्रचार कर सके। भगवत्कृपा से उनके एक पुत्र हुआ जिनका नाम भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज था, जो सम्प्रति पूरे विश्व में अपने प्रामाणिक शिष्यों की सहायता से भगवान् चैतन्य के दर्शन का उपदेश दे रहे हैं।

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं

संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।

प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं

परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; अभवत्—प्रकट हुआ; विश्वम्—सृष्टि; इदम्—यह; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; संस्थास्यते—विलीन हो जावेगा; यत्र—जिसमें; च—यथा; वा—या; अवतिष्ठते—इस समय उपस्थित है; प्रजा-पतीनाम्—प्रजापतियों का; पतिः—भगवान्; एषः—यह; मह्यम्—मुझको; परम्—सर्वोच्च; प्रमाणम्—प्रमाण; भगवान्—परमेश्वर; अनन्तः—असीम।

मेरे लिए तो सर्वोच्च अधिकारी अनन्त श्रीभगवान् हैं जिनसे यह विचित्र सृष्टि उद्भूत होती है और जिन पर इसका भरण तथा विलय आश्रित है। वे उन समस्त प्रजापतियों के मूल हैं, जो इस संसार में जीवात्माओं को उत्पन्न करने वाले महापुरुष हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि के पिता प्रजापति ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया था। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापतियों का कार्य अनेक सन्तानों को जन्म देना था, जो इस विराट ब्रह्माण्ड लोकों में बस सकें। किन्तु कर्दम मुनि ने कहा कि यद्यपि मेरे पिता प्रजापति हैं, जिन्होंने मुझे सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिया है, किन्तु वास्तव में उनके मूल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ही हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु ही सबों के मूल हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड के असली सृजनकर्ता हैं, वे ही इसके पालक हैं और जब प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जाती है, तो यह उन्हीं पर आश्रित रहता है। श्रीमद्भागवत का यही निष्कर्ष है। सृष्टि, पालन तथा संहार के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा महेश्वर तो विष्णु के गुणात्मक अंश हैं। विष्णु मध्यवर्ती स्वरूप हैं, फलतः वे पालन का भार ग्रहण करते हैं। उनके

अतिरिक्त अन्य कोई समस्त सृष्टि का पालन नहीं कर सकता। जीव असंख्य हैं और उनकी आवश्यकताएँ भी अनन्त हैं। विष्णु के अतिरिक्त इन असंख्य जीवों की अनन्त आवश्यकताओं को कोई अन्य पूरा नहीं कर सकता। ब्रह्मा को सृष्टि करने तथा शिव को संहार करने का आदेश दिया गया है। बीच का कार्य, जो पालन का है, वह विष्णु के जिम्मे है। कर्दम मुनि अपने प्रगतिशील आत्म जीवन के कारण भलीभाँति जान रहे थे कि श्रीभगवान् विष्णु ही एकमात्र पूज्य विग्रह हैं। जो कुछ विष्णु चाहते हैं वही करणीय है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उद्यत न थे। वे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो विष्णु के सन्देश का संवाहक बने। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब तब धर्म की रक्षा के लिए तथा असुरों के विनाश के लिए भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

ब्याह करके सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य जिस परिवार में उत्पन्न होता है उसके ऋण-भार से वह मुक्त होता है। ऐसे अनेक ऋण हैं, जो सन्तान के जन्म के पश्चात् उस पर लाद दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार, देवता, पितर, ऋषि आदि के प्रति भी ऋण होते हैं। किन्तु यदि कोई श्रीभगवान् की ही सेवा में अपने को अनुरक्त रखता है, तो अन्य ऋणों को चुकाये बिना ही वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है। कर्दम मुनि ने भगवान् की सेवा में दास के रूप में परमहंस बनकर जीवन अर्पित करना और उसी उद्देश्य के लिए पुत्र उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझा। वे विश्व के रिक्त-स्थानों को पूरा भरने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न करना नहीं चाह रहे थे।

मैत्रेय उवाच
 स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
 आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
 धियोपगृह्णन्स्मितशोभितेन
 मुखेन चेतो लुलुभे देवहृत्याः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—ऋषि मैत्रेय ने; उवाच—कहा; सः—वह (कर्दम); अग्र-धन्वन्—हे योद्धा विदुर; इयत्—इतना; एव—ही; आबभाषे—बोला; आसीत्—हो गया; च—यथा; तूष्णीम्—मौन; अरविन्द-नाभम्—भगवान् विष्णु (जिनकी नाभि कमल से भूषित है); धिया—विचार से; उपगृह्णन्—पकड़ते हुए; स्मित-शोभितेन—अपनी मुस्कान से सुशोभित; मुखेन—अपने मुखमण्डल से; चेतः—मन; लुलुभे—मोहित हो गया; देवहृत्याः—देवहृति के।

श्री मैत्रेय ने कहा—हे योद्धा विदुर, कर्दम मुनि ने केवल इतना ही कहा और कमलनाभ पूज्य भगवान् विष्णु का चिन्तन करते हुए वह मौन हो गये। वे उसी मौन में हँस पड़े जिससे उनके मुखमण्डल पर देवहृति आकृष्ट हो गई और वह मुनि का ध्यान करने लगी।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि कर्दम मुनि मौन होते ही कृष्णभावनामृत में लीन हो गये और भगवान् विष्णु का चिन्तन करने लगे। कृष्णभावनामृत (भक्ति) की यही विधि है। शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के चिन्तन में इतने लीन हो जाते हैं कि उनके कोई दूसरा कार्य ही नहीं रह जाता, भले ही ऊपर से वे कुछ करते दिखें, किन्तु वे मन में निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। ऐसे कृष्ण-भक्त की हँसी इतनी आकर्षक होती है कि वह अपनी हँसी से न जाने कितने प्रशंसकों, शिष्यों तथा अनुयायियों के हृदयों को जीत लेता है।

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम् ।

तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सम्राट मनु); अनु—तदनन्तर; ज्ञात्वा—जानकर; व्यवसितम्—दृढ़ संकल्प; महिष्याः—रानी का; दुहितुः—अपनी पुत्री का; स्फुटम्—स्पष्ट रूप से; तस्मै—उसको; गुण-गण-आढ्याय—अनेक गुणों से सम्पन्न; ददौ—अर्पित कर दिया; तुल्याम्—समान, सम (गुणों में); प्रहर्षितः—अत्यधिक प्रसन्न।

रानी (शतरूपा) तथा देवहृति दोनों के दृढ़ संकल्प को स्पष्ट रूप से जानलेने पर सम्राट (मनु) ने अपनी पुत्री को समान गुणों से युक्त मुनि (कर्दम) को अर्पित कर दिया।

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् ।

दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शतरूपा—शतरूपा; महा-राज्ञी—महारानी; पारिबर्हान्—दहेज; महा-धनान्—बहुमूल्य भेंट; दम्-पत्योः—वर-वधु को; पर्यदात्—दिया; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; भूषा—आभूषण; वासः—वस्त्र; परिच्छदान्—गृहस्थी की वस्तुएँ।

महारानी शतरूपा ने वर-वधू (बेटी-दामाद) को प्रेमपूर्वक अवसर के अनुकूल अनेक बहुमूल्य भेंटें, यथा आभूषण, वस्त्र तथा गृहस्थी की वस्तुएँ प्रदान कीं।

तात्पर्य : आज भी भारत में कन्यादान के साथ दहेज देने की प्रथा प्रचलित है। दी जाने वाली भेंटें कन्या के पिता की हैसियत (स्थिति) के अनुसार होती हैं। *पारिबर्हान् महाधनान्* का अर्थ है विवाह के समय दूल्हे को दिया जाने वाला दहेज। यहाँ पर *महाधनान्* का अर्थ होगा एक महारानी के अनुकूल बहुमूल्य वस्तुओं का दहेज। *भूषावासः परिच्छदान्* का अर्थ गृहस्थी की वस्तुएँ हैं। एक सम्राट की पुत्री के विवाहोत्सव के अनुकूल सभी प्रकार की वस्तुएँ कर्दम मुनि को, जो अभी तक ब्रह्मचारी थे, दी गईं। दुलहिन के वेश में देवहूति बहुमूल्य आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित थी।

इस प्रकार कर्दम मुनि का विवाह एक योग्य पत्नी के साथ सम्पन्न हुआ और साथ में गृहस्थी की सारी सामग्री प्राप्त हुई। विवाह की वैदिक रीति में आज भी कन्या के पिता द्वारा वर को ऐसा दहेज दिया जाता है, यहाँ तक कि भारत के अनेक निर्धन परिवार भी दहेज में सैकड़ों-हजारों रुपये व्यय करते हैं। दहेज-प्रथा अवैध नहीं है, जैसा कुछ लोग सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। दहेज तो पिता द्वारा सदिच्छा के प्रतीक रूप में कन्या को दिया जाने वाला दान है, जो अनिवार्य है। जहाँ पिता अत्यन्त निर्धन होने के कारण दहेज नहीं दे पाता वहाँ पर फल तथा फूल ही दिये जाने का विधान है। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, भगवान् फल तथा फूल से भी प्रसन्न होते हैं। जहाँ आर्थिक विपन्नता होती है और अन्य किसी प्रकार से दहेज की राशि संग्रह नहीं की जा सकती वहाँ दूल्हे को प्रसन्न करने के लिए फल तथा फूल दिये जा सकते हैं।

प्रत्तां दुहितरं सम्राट्सदृक्षाय गतव्यथः ।

उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

प्रत्ताम्—दान दी गई; दुहितरम्—कन्या को; सम्राट्—राजा (मनु); सदृक्षाय—उपयुक्त व्यक्ति को; गत-व्यथः—भार से मुक्त; उपगुह्य—चूमकर; च—तथा; बाहुभ्याम्—अपने दोनों हाथों से; औत्कण्ठ्य-उन्मथित-आशयः—अत्यन्त उत्सुक एवं क्षुब्ध मन।

इस प्रकार अपनी पुत्री को योग्य वर को प्रदान करके अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होकर स्वायंभुव मनु का मन वियोग के कारण विचलित हो उठा और उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री को दोनों बाहों में भर लिया।

तात्पर्य : पिता जब तक अपनी वयस्क पुत्री को किसी उपयुक्त वर को अर्पित नहीं कर देता तब तक वह चिन्ताग्रस्त रहता है। माता तथा पिता जब तक अपनी सन्तानों का विवाह नहीं कर लेते तब तक उनके ऊपर जिम्मेदारी बनी रहती है और जब पिता अपना कर्तव्य निबाह लेता है, तो वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है।

अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन्बाष्पकलां मुहुः ।

आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अशक्नुवन्—न सह सकने के कारण; तत्-विरहम्—उसका वियोग; मुञ्चन्—गिराते हुए; बाष्प-कलाम्—आँसू; मुहुः—पुनः पुनः; आसिञ्चत्—भीग गया; अम्ब—मेरी माता; वत्स—मेरी प्रिय पुत्री; इति—इस प्रकार; नेत्र-उदैः—नेत्रों के जल से; दुहितुः—अपनी पुत्री का; शिखाः—बालों का गुच्छा।

सम्राट अपनी पुत्री के वियोग को न सह सके, अतः उनके नेत्रों से बारम्बार अश्रु झरने लगे और उनकी पुत्री का सिर भीग गया। वे विलख पड़े 'मेरी माता, मेरी प्यारी बेटी।'

तात्पर्य : अम्ब शब्द सार्थक है। कभी-कभी पिता अपनी पुत्री को प्यार में 'माता' अथवा कभी 'मेरी बिटिया' कहकर पुकारता है। विरह भाव इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि जब तक कन्या का विवाह नहीं होता वह अपने पिता के घर पर रहती है, किन्तु ज्योंही उसकी शादी हो जाती है, वह परिवार की कन्या नहीं रह जाती। उसे अपने पति के घर जाना पड़ता है, क्योंकि विवाह के बाद वह अपने पति की सम्पत्ति बन जाती है। मनु संहिता के अनुसार स्त्री कदापि स्वतन्त्र नहीं रहती। जब तक विवाह नहीं होता वह अपने पिता की सम्पत्ति रहती है और जब तक उसके बाल-बच्चे बड़े नहीं हो जाते और स्वयं सयानी नहीं हो जाती, अपने पति की सम्पत्ति बनी रहती है। स्त्री सदा ही अपने पिता, पति अथवा पुत्रों पर आश्रित रहती है। ऐसा हमें देवहूति के जीवन में आगे देखने को मिलेगा। देवहूति के पिता ने अपना उत्तरदायित्व

उसके पति कर्दम मुनि को सौंप दिया और उसी तरह कर्दम मुनि अपने पुत्र कपिलदेव को सौंप कर गृहत्याग कर चले गये। इन घटनाओं का वर्णन अपने कथनों में एक-एक करके किया जाएगा।

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्जातः सहानुगः ।

प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥ २६ ॥

उभयोरृषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।

ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—जाने की अनुमति लेकर; तम्—उससे; मुनि-वरम्—मुनियों में श्रेष्ठ, कर्दम से; अनुज्जातः—जाने की अनुमति पाकर; सह-अनुगः—अपने सेवकों सहित; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; रथम् आरुह्य—रथ में चढ़कर; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ; स्व-पुरम्—अपनी राजधानी को; नृपः—राजा; उभयोः—दोनों पर; ऋषि-कुल्यायाः—ऋषियों को स्वीकार्य; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी का; सु-रोधसोः—सुहावने किनारे; ऋषीणाम्—ऋषियों का; उपशान्तानाम्—शान्त; पश्यन्—देखते हुए; आश्रम-सम्पदः—सुन्दर आश्रम की समृद्धि।

तब महर्षि से आज्ञा लेते हुए और उनकी अनुमति पाकर राजा अपनी पत्नी के साथ रथ में सवार हुआ और अपने सेवकों सहित अपनी राजधानी के लिए चल पड़ा। रास्ते भर वे साधु पुरुषों के लिए अनुकूल सरस्वती नदी के दोनों ओर सुहावने तटों पर उनके शान्त एवं सुन्दर आश्रमों की समृद्धि को देखते रहे।

तात्पर्य : आधुनिक युग में जिस प्रकार बड़ी-बड़ी इंजीनियरी और वास्तुकला के कौशल से नगरों का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार प्राचीनकाल में ऋषिकुल होते थे जहाँ साधु सदृश व्यक्ति रहा करते थे। आज भी भारत में दिव्य ज्ञान के अनेक भव्य स्थान हैं, अनेक ऋषि तथा साधु पुरुष आत्म-अनुशीलन के लिए गंगा तथा यमुना के तट पर सुन्दर कुटियों में रहते हैं। राजा अपने दल समेत इन ऋषिकुलों से होकर जाते समय कुटियों तथा आश्रमों की शोभा से बहुत प्रमुदित हुआ करते थे। यहाँ पर पश्यन्-आश्रम-सम्पदः कहा गया है। ऋषियों के पास उच्च प्रासाद न थे, किन्तु उनके आश्रम इतने सुन्दर थे कि राजा उन्हें देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए।

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।

गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; अभिप्रेत्य—समझ कर; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त से; प्रजाः—उसकी प्रजा; पतिम्—अपने स्वामी को; गीत-संस्तुति-वादित्रैः—गीत, स्तुति तथा वाद्यसंगीत से; प्रत्युदीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; प्रहर्षिताः—अत्यधिक प्रसन्न।

राजा का आगमन जानकर उसकी प्रजा अपार प्रसन्नता से ब्रह्मावर्त से बाहर निकल आई और वापस आते हुए अपने राजा का गीतों, स्तुतियों तथा वाद्य संगीत से सम्मान किया।

तात्पर्य : यह एक प्रथा है कि किसी राज्य की राजधानी के नागरिक यात्रा से लौटे अपने राजा की अगवानी करते हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारका लौटने का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उस अवसर पर सभी वर्ग के नागरिकों ने नगर के प्रवेशद्वार पर उनका स्वागत किया। प्राचीनकाल में राजधानियाँ प्राचीनों से घिरी होती थीं और प्रवेश के लिए विभिन्न द्वार होते थे। आज भी दिल्ली में अनेक प्राचीन द्वार हैं और कुछ अन्य प्राचीन नगरों में ऐसे द्वार हैं जहाँ नागरिक एकत्र होकर राजा का स्वागत करते थे। यहाँ पर भी ब्रह्मावर्त की राजधानी बर्हिष्मती के नागरिक सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करके सम्राट् स्वायंभुव मनु का स्वागत अनेक प्रकार की सजावट करके तथा वाद्य यंत्रों द्वारा करने के लिए आये।

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।

न्यपतन् यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥ २९ ॥

कुशाः काशास्त एवासन्शश्रुद्धरितवर्चसः ।

ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान्यज्ञमीजिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मती—बर्हिष्मती; नाम—नामक; पुरी—नगरी; सर्व-सम्पत्—सभी प्रकार की सम्पदा; समन्विता—से पूर्ण; न्यपतन्—गिर पड़े; यत्र—जहाँ; रोमाणि—बाल (रोएँ); यज्ञस्य—भगवान् शूकर के; अङ्गम्—शरीर; विधुन्वतः—हिलाने पर; कुशाः—कुश (एक घास); काशाः—काँस (एक घास); ते—वे; एव—निश्चय ही; आसन्—हो गया; शश्रुत्-हरित—सदाबहार का; वर्चसः—रंग का; ऋषयः—ऋषिगण; यैः—जिससे; पराभाव्य—हराकर; यज्ञ-घ्नान्—यज्ञ में बाधक; यज्ञम्—भगवान् विष्णु; ईजिरे—उन्होंने पूजा की।

सभी प्रकार की सम्पदा में धनी बर्हिष्मती नगरी का यह नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि जब भगवान् ने अपने आपको वराह रूप में प्रकट किया, तो भगवान् विष्णु का बाल (रोम) उनके शरीर से नीचे गिर पड़ा। जब उन्होंने अपना शरीर हिलाया तो जो बाल नीचे

गिरा वह सदैव हरे भरे रहने वाले उन कुश तथा काँस में बदल गया जिनके द्वारा ऋषियों ने भगवान् विष्णु की तब पूजा की थी जब उन्होंने यज्ञों को सम्पन्न करने में बाधा डालने वाले असुरों को हराया था।

तात्पर्य : परमेश्वर से सीधे सम्बद्ध कोई भी स्थान *पीठ-स्थान* कहलाता है। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती इसलिए महान् न थी कि उस नगरी में प्रचुर धन तथा ऐश्वर्य था, वरन् इसलिए कि उसी स्थान पर भगवान् वराह के बाल गिरे थे। ये ही बाल बाद में हरी घास के रूप में उग आये और ऋषिगण इस घास से भगवान् की उस समय पूजा करते थे जब उन्होंने हिरण्याक्ष असुर का वध किया था। यज्ञ का अर्थ है, भगवान् विष्णु। *भगवद्गीता* में कर्म को यज्ञार्थ कहा गया है। यज्ञार्थ कर्म का अर्थ है “विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किया गया कार्य।” यदि कोई कार्य इन्द्रिय-तृप्ति या अन्य उद्देश्य से किया जाता है, तो यह काम करने वाले पर बन्धन होगा। यदि कोई कर्म-बन्धन से मुक्त होना चाहता है, तो उसे विष्णु या यज्ञ को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक कार्य करना चाहिए। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती में ये विशेष उत्सव ऋषियों तथा साधुओं द्वारा सम्पन्न किये जा रहे थे।

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्यं भगवान्मनुः ।

अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कुश—कुश की; काश—तथा काँस की; मयम्—निर्मित; बर्हिः—आसनी; आस्तीर्य—फैलाकर; भगवान्—अत्यन्त भाग्यशाली; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; अयजत्—पूजा की; यज्ञ-पुरुषम्—भगवान् विष्णु; लब्धा—प्राप्त किया; स्थानम्—वास, धाम; यतः—जिससे; भुवम्—पृथ्वी।

मनु ने कुश तथा काँस की बनी आसनी बिछाई और श्रीभगवान् की अर्चना की जिनकी कृपा से उन्हें पृथ्वी मंडल का राज्य प्राप्त हुआ था।

तात्पर्य : मनु मनुष्यजाति के पिता हैं, अतः मनु शब्द से ही मनुष्य बना है। जिनके पास प्रचुर सम्पत्ति है और अच्छे पद पर हैं उन्हें मनु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो अपने राज्य तथा वैभव को श्रीभगवान् की देन समझ कर सदैव भक्ति में तल्लीन रहते थे। इसी प्रकार से मनु की सन्तान अर्थात् मनुष्यों को विशेषकर उच्चपदों पर आसीन लोगों को समझना चाहिए

कि समस्त ऐश्वर्य श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त है। उन्हें इस ऐश्वर्य का सदुपयोग यज्ञ सम्पन्न करके भगवान् को प्रसन्न करने में करना चाहिए। धन तथा ऐश्वर्य के सदुपयोग की यही विधि है। भगवान् की कृपा के बिना किसी को धन, ऐश्वर्य, उत्तम जन्म, सुन्दर शरीर या अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं होती। अतः जिन्हें ये सुविधाएँ प्राप्त हैं उन्हें चाहिए कि वे भगवान् की पूजा करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें और जो उन्हें प्राप्त है उसे भगवान् को समर्पित करें। जब किसी परिवार, राष्ट्र या समाज द्वारा इस प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त की जाती है, तो उनके वास स्थान वैकुण्ठ से समान हो जाते हैं और वे इस संसार में व्याप्त तीनों तापों से मुक्त रहते हैं। आधुनिक युग में भगवान् श्रीकृष्ण की प्रधानता ज्ञापित करने के लिए ही कृष्णभावनामृत का ध्येय सबके लिए रखा गया है। जिसके पास जो कुछ है उसे भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त दान समझना चाहिए। अतः प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि कृष्णभावनामृत के माध्यम से भक्तिमय सेवा में लगे। कोई भी, चाहे वह गृहस्थ हो या नागरिक या मानव समाज का सदस्य, यदि सुखी रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्ति करनी चाहिए।

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्या निर्विशय समावसत् ।

तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती नगरी में; नाम—नामक; विभुः—परम शक्तिमान् स्वायंभुव मनु; याम्—जिस; निर्विशय—प्रवेश करके; समावसत्—पहले रहता था; तस्याम्—उस नगरी में; प्रविष्टः—प्रवेश किया; भवनम्—महल; तापत्रय—तीन प्रकार के ताप; विनाशनम्—नष्ट करते हुए।

जिस बर्हिष्मती नगरी में मनु पहले से रहते थे उसमें प्रवेश करने के पश्चात् वे अपने महल में गये जो सांसारिक त्रय-तापों को नष्ट करने वाले वातावरण से परिव्याप्त था।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार तीन प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से पूर्ण है। मानव समाज की सार्थकता इसीमें है कि कृष्णभावनामृत को प्रसारित करके आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करे। इस संसार के तापों का कृष्णभावनामृत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण-भक्ति करने पर संसार के सभी ताप लुप्त हो जाते हैं, वरन् यह कि जो कृष्णभक्त होता है उस पर इन तापों का प्रभाव नहीं पड़ता। हम भौतिक

वातावरण के तापों को रोक नहीं सकते, किन्तु कृष्णभावनामृत वह प्रतिरोधी ओषधि है, जो हमें इन तापों से बचाती है। कृष्णभक्त के लिए स्वर्ग तथा नरक का वास एकसमान है। अगले श्लोक में बताया गया है कि मनु ने वह वातावरण किस प्रकार उत्पन्न किया जिससे वे तीनों तापों से अप्रभावित रह आये।

सभार्यः सप्रजः कामान्बुभुजेऽन्याविरोधतः
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन्हरेः कथाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स-भार्यः—अपनी पत्नी के सहित; स-प्रजः—अपनी प्रजा के साथ; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; बुभुजे—भोग किया; अन्य—दूसरों से; अविरोधतः—बिना अड़चन के; सङ्गीयमान—प्रशंसित होकर; सत्-कीर्तिः—पुण्य कार्यों के लिए प्रसिद्धि; स-स्त्रीभिः—अपनी-अपनी पत्नियों समेत; सुर-गायकैः—स्वर्गिक गायकों (गंधर्वों) के द्वारा; प्रति-ऊषेषु—प्रत्येक उषा (प्रातः) समय; अनुबद्धेन—बँधा हुआ; हृदा—हृदय से; शृण्वन्—सुनते हुए; हरेः—भगवान् की; कथाः—कथाएँ।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी तथा प्रजा सहित जीवन का आनन्द उठाते रहे और उन्होंने धर्म के विरुद्ध अवांछित नियमों से विचलित हुए बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति की। गन्धर्वगण अपनी भार्याओं सहित सम्राट की कीर्ति का गान करते और सम्राट प्रतिदिन उषाकाल में अत्यन्त प्रेमभाव से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का श्रवण करते थे।

तात्पर्य : मानव समाज असल में कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के निमित्त है। इसमें अपनी पत्नी तथा सन्तान के साथ रहने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु जीवनपद्धति ऐसी हो कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विपरीत न जाने पाए। वैदिक नियम इस प्रकार बनाये गये हैं कि बद्ध आत्मा जो इस संसार में आये हैं भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में उनका मार्गदर्शन हो और साथ ही साथ मुक्त होकर भगवान् के धाम अर्थात् घर को वापस जा सकें।

ऐसा ज्ञात होता है कि स्वायंभुव मनु इन नियमों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आनन्द उठा रहे थे। यहाँ यह उल्लेख है कि नित्य प्रातःकाल गायकवृन्द वाद्य-संगीत के साथ

भगवान् के यश का गान करते थे और सम्राट सपरिवार परमेश्वर की लीलाओं का श्रवण करते थे। भारत के कुछ मन्दिरों तथा राजपरिवारों में आज भी यह प्रथा प्रचलित है जहाँ वृत्तिक गवैये शहनाई बजाते हैं और घर के लोग प्रमुदित वातावरण में नींद से उठते हैं। सोते समय भी गवैये शहनाई के साथ भगवान् की लीलाओं का गान करते हैं और घर के लोग भगवान् का स्मरण करते हुए सोते हैं। ऐसे गायन कार्यक्रम के अतिरिक्त प्रत्येक घर में संध्या समय *भागवत* उपदेश की व्यवस्था रहती है, परिवार के सभी सदस्य बैठते हैं, हरेकृष्ण कीर्तन करते हैं, *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के उपदेश सुनते हैं और सोने के पूर्व संगति का आनन्द उठाते हैं। ऐसे संकीर्तन से उत्पन्न वातावरण उनके मस्तिष्कों में बना रहता है और सोते हुए भी वे ऐसे ही संगति एवं भगवान् की लीलाओं के स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन है, जैसाकि *भागवत* के इस श्लोक से ज्ञात होता है। लाखों वर्ष पूर्व स्वायंभुव मनु ने गृहस्थ जीवन में शान्ति एवं कृष्णभावनामृत के वातावरण में रहने के लिए इस सुअवसर का लाभ उठाया था।

जहाँ तक मन्दिरों का प्रश्न है, प्रत्येक राजमहल में या धनी व्यक्ति के घर में निश्चित रूप से एक सुन्दर मन्दिर रहता है जहाँ परिवार के सभी लोग प्रातःकाल जाकर मंगलारात्रि का उत्सव देखते हैं। यह उत्सव प्रथम प्रातःकालीन पूजा होती है। आरात्रिका उत्सव में देवताओं के समक्ष आरती की जाती है, शंख बजाये जाते हैं और पुष्प अर्पित करके पंखा झला जाता है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् भोर होते जगकर कुछ नाश्ता करते हैं और भक्तों को दर्शन देते हैं। तब भक्तगण अपने-अपने घर चले जाते हैं, अथवा मन्दिर में ही भगवान् के गुणों का गायन करते रहते हैं। अब भी भारतीय मन्दिरों तथा महलों में प्रातःकाल का उत्सव सम्पन्न होता है। मन्दिर सामान्य लोगों के एकत्र होने के स्थान होते हैं। महलों के भीतर बने मन्दिर राजपरिवारों के लिए होते हैं, किन्तु इनमें से कई मन्दिरों में जनता को भी जाने दिया जाता है। जयपुर नरेश के महल के भीतर मन्दिर बना है, किन्तु उसमें जनता को जाने दिया जाता है और वहाँ सदैव कम से कम पाँच सौ भक्त एकत्र मिलेंगे। मंगलारात्रिका उत्सव के पश्चात् वे विविध वाद्ययन्त्रों

के द्वारा भगवान् का यशोगान करते हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द लूटते हैं। *भगवद्गीता* में भी राजपरिवार द्वारा मन्दिर पूजा का वर्णन हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि जो इस जीवन में भक्तियोग में असफल होते हैं उन्हें अगले जन्म में किसी धनी परिवार में या राजपरिवार में अथवा विद्वान् ब्राह्मणों या भक्तों के परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि उसे इन परिवारों में जन्म ग्रहण करने का सुयोग प्राप्त होता है, तो उसे बिना किसी कठिनाई के कृष्णभावनामृत का वातावरण प्राप्त कर सकता है। कृष्णभावनाभावित वातावरण में उत्पन्न बालक निश्चित रूप से कृष्ण-भक्त बनता है। जिस सिद्धि को वह पिछले जन्म में नहीं प्राप्त कर सका था उसे इस जीवन में अवसर दिया जाता है और निश्चिन्त उसे सिद्धि मिल सकती है।

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम् ।
यदाभ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

निष्णातम्—लिप्त; योग-मायासु—क्षणिक सुख में; मुनिम्—मुनि तुल्य; स्वायम्भुवम्—स्वायंभुव; मनुम्—मनु को; यत्—जिससे; आभ्रंशयितुम्—विचलित होकर; भोगाः—सांसारिक सुख; न—नहीं; शेकुः—सक्षम थे; भगवत्-परम्—भगवान् का परम भक्त।

इस प्रकार स्वयंभुव मनु साधु-सदृश राजा थे। भौतिक सुख में लिप्त रहकर भी वे निम्नकोटि के जीवन की ओर आकृष्ट नहीं थे, क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनामृत के वातावरण में भौतिक सुख का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : राजसी सुख प्राप्त होने पर मनमानी इन्द्रिय-तृप्ति के कारण मनुष्य निम्नकोटि के जीवन—अर्थात् पशु जीवन की ओर बढ़ता है। किन्तु स्वायंभुव मनु तो साधु के समान थे, क्योंकि उनके राज्य तथा घर में कृष्णभावनामृत का वातावरण था। बद्धजीवों के साथ भी ऐसा ही है; वे इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु यदि वे जैसा यहाँ पर बताया गया है या शास्त्रोक्त विधि से मन्दिर पूजा तथा घरेलू देव-पूजा के द्वारा कृष्णभावनामृत का वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, तो भौतिक सुख भोगते हुए भी वे शुद्ध कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकते हैं। आज के समय में, आधुनिक सभ्यता इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त है।

अतः कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को भौतिक सुख भोगते हुए मानव जीवन का सदुपयोग करने का सुयोग प्रदान करता है। कृष्णभक्ति इन्हें भौतिक सुख के लिए वर्जित नहीं करती, वरन् इन्द्रियसुख सम्बन्धी आदतों को संयमित करती है। वे भौतिक लाभों को उठाते हुए इसी जीवन में कृष्णभक्ति का अभ्यास करते हुए भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, कीर्तन-जप—करते हुए मुक्त हो सकते हैं।

अयातयामास्तस्यासन्यामाः स्वान्तरयापनाः ।

शृण्वतो ध्यायतो विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अयात-यामाः—समय व्यर्थ नहीं गया; तस्य—मनु का; आसन्—थे; यामाः—घंटे; स्व-अन्तर—जीवनकाल; यापनाः—व्यतीत करके; शृण्वतः—सुनते हुए; ध्यायतः—ध्यान करते; विष्णोः—भगवान् विष्णु का; कुर्वतः—करते हुए; ब्रुवतः—बोलते हुए; कथाः—कथाएँ।

फलतः धीरे-धीरे उनके जीवन का अन्त-समय आ पहुँचा आया; किन्तु उनका दीर्घ जीवन, जो मन्वन्तर कल्प से युक्त है, व्यर्थ नहीं गया क्योंकि वे सदैव भगवान् की लीलाओं के श्रवण, चिन्तन, लेखन तथा कीर्तन में व्यस्त रहे।

तात्पर्य : तुरन्त का तैयार भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, किन्तु यदि उसे तीन-चार घंटे बाद खाया जाय तो वह बासी और स्वाद हीन हो जाता है, अतः जब तक जीवन में ताजगी है तब तक भौतिक सुख है किन्तु जीवन के अन्त समय प्रत्येक वस्तु नीरस, व्यर्थ तथा कष्टकारक लगती है। किन्तु सम्राट् स्वायंभुव मनु का जीवन नीरस नहीं था; वृद्ध होने पर भी उसमें प्रारम्भिक जीवन की सी ताजगी थी क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनाभावित बने रहे। कृष्णभक्ति में रहने वाले मनुष्य का जीवन सदैव ताजा बना रहता है। कहा जाता है कि सूर्य प्रातःकाल उदय होता है, सायंकाल अस्त होता है और उसका कार्य प्रत्येक प्राणी के जीवन की अवधि को घटाना है। किन्तु जो प्राणी कृष्णभक्ति में रत है उसके जीवन को सूर्योदय तथा सायंकाल घटा नहीं पाते। स्वायंभुव मनु का जीवन कुछ काल बाद नीरस इसीलिए नहीं हुआ, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् विष्णु का जप तथा ध्यान करते रहे। वे महानतम् योगी थे, क्योंकि अपना

समय नष्ट नहीं करते थे। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि *विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः*। जब वे कुछ बोलते तो भगवान् के विषय में और जब भी कुछ सुनते तो भगवान् के विषय में और जब भी ध्यान धरते तो श्रीकृष्ण और उनके कार्यकलापों के सम्बन्ध में।

कहा गया है कि उसकी आयु अत्यन्त दीर्घ अर्थात् एकहत्तर युग थी। एक युग ४३ लाख २० हजार वर्षों के तुल्य है। ऐसे एकहत्तर युग मनु की आयु थी। ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु आते-जाते हैं। इस प्रकार अपने पूरे जीवनकाल—४३,२०,००० × ७१ वर्ष—में मनु कृष्ण का कीर्तन, श्रवण, कथन तथा ध्यान धरते रहे। अतः उनका जीवन न तो व्यर्थ गया और न कभी नीरस लगा।

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (स्वायंभुव मनु ने); एवम्—इस प्रकार; स्व-अन्तरम्—अपना काल (जीवन); निन्ये—बिताया;
युगानाम्—चार युगों के चक्रों का; एक-सप्ततिम्—एकहत्तर; वासुदेव—वासुदेव से; प्रसङ्गेन—सम्बद्ध कथाओं से;
परिभूत—पार कर गया; गति-त्रयः—तीनों लक्ष्य (अवस्थाएँ)।

उन्होंने निरन्तर वासुदेव का ध्यान करते और उन्हीं का गुणानुवाद करते एकहत्तर चतुर्युग (७१ × ४३,२०,००० वर्ष) पूरे किये। इस प्रकार उन्होंने तीनों लक्ष्यों को पार कर लिया।

तात्पर्य : तीन लक्ष्य उन व्यक्तियों के लिए हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों से बँधे हैं। इन लक्ष्यों को कभी-कभी जागृत, स्वप्न तथा तुरीय अवस्थाएँ कहा जाता है। *भगवद्गीता* में ये तीन लक्ष्य सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों के रूप में वर्णित हैं। गीता में कहा गया है कि सतोगुण वाले लोग स्वर्गलोक जाते हैं, रजोगुण वाले इसी पृथ्वीलोक या उच्चतर लोकों में रहते हैं और तमोगुणी लोग उन लोकों में पशु जीवन बिताते जहाँ मनुष्य जीवन से निम्नतर जीवन होता है। किन्तु जो कृष्णभक्त है, वह इन तीन गुणों से परे होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीन लक्ष्यों को स्वतः पार कर लेता है और ब्रह्मभूत हो जाता है अर्थात् उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है (मुक्त हो जाता है)।

यद्यपि इस भौतिक संसार के शासक स्वायंभुव मनु भौतिक सुख में निमग्न प्रतीत होते थे, किन्तु वे न तो सत्त्व गुण में अथवा न ही रजो गुण अथवा तमोगुण अवस्था में हो, वरन् दिव्य अवस्था को प्राप्त थे।

अतः जो कोई भक्तिमय सेवा में लगा रहता है, वह सदैव मुक्त रहता है। भगवान् के परम भक्त बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है, “यदि श्रीकृष्ण के चरणकमल में मेरी एकनिष्ठ भक्ति है, तो माता मुक्ति सदैव मेरी सेवा के लिए तत्पर रहेगी। भौतिक सुख, धर्म तथा अर्थ की पूर्ण सिद्धि मेरे वश में है।” सभी लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के फेर में रहते हैं। सामान्यतः वे कोई धार्मिक कृत्य इसलिए करते हैं जिससे कुछ भौतिक लाभ हो और कर्म इसलिए करते हैं जिससे इन्द्रिय-तृप्ति हो सके। सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से उब कर मनुष्य मुक्त होना चाहता है और परम सत्य से तादात्म्य चाहता है। अल्पज्ञानियों के लिए ये चातुष्टय-दिव्य पथ का निर्माण करते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे इन चतुष्टयों की परवाह न करते हुए अपने आपको कृष्णभक्ति में लगाते हैं। वे तुरन्त ही उस दिव्य पद को प्राप्त होते हैं, जो मुक्ति से बड़ा है। भक्त के लिए मुक्ति कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। भक्तगण धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे सदैव आत्म-साक्षात्कार की ब्रह्म-भूत अवस्था पर आसीन रहते हैं, जो दिव्य पद है।

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।

भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

शारीराः—शरीर सम्बन्धी; मानसाः—मन सम्बन्धी; दिव्याः—दैवी शक्ति सम्बन्धी(दैवताओं का); वैयासे—हे विदुर; ये—जो; च—यथा; मानुषाः—अन्य मनुष्यों से सम्बन्धित; भौतिकाः—अन्य जीवों से सम्बन्धित; च—तथा; कथम्—कैसे; क्लेशाः—दुख; बाधन्ते—कष्ट पहुँचा सकते हैं; हरि-संश्रयम्—जिसने भगवान् कृष्ण की शरण ली हुई है।

अतः हे विदुर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के शरणागत हैं, भला वे किस प्रकार शरीर, मन, प्रकृति, अन्य मनुष्यों तथा जीवित प्राणियों से सम्बन्धित कष्टों में पड़ सकते हैं।

तात्पर्य : इस संसार का प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार के कष्ट से पीड़ित है, चाहे वह शरीर से सम्बन्धित हो या मन अथवा भौतिक विपदाओं से सम्बन्धित हो। इस संसार में अतिशीत तथा अतिताप से सबों को कष्ट पहुँचता है, किन्तु जिस किसी ने कृष्णभावनामृत के अंतर्गत भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त कर ली है, वह दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। वह किसी प्रकार के कष्ट से विचलित नहीं होता चाहे वह शरीर तथा मन से सम्बन्धित कष्ट हों या कि शीत तथा ग्रीष्म के प्राकृतिक उत्पात हों। वह इन कष्टों से परे है।

यः पृष्ठो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् ।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पृष्ठः—पूछे जाने पर; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; प्राह—बोला; धर्मान्—कर्तव्य; नाना-विधान्—अनेक प्रकार के; शुभान्—शुभ; नृणाम्—मनुष्य समाज का; वर्ण-आश्रमाणाम्—वर्णों तथा आश्रमों का; च—यथा; सर्व-भूत—सभी जीवों के लिए; हितः—कल्याणकर; सदा—सदैव।

कुछ मुनियों के पूछे जाने पर उन्होंने (स्वायंभुव मनु ने) समस्त जीवों पर दया करके

मनुष्य के सामान्य पवित्र कर्तव्यों तथा वर्णों और आश्रमों का उपदेश दिया।

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुम; आदि-राजस्य—प्रथम सम्राट के; मनोः—स्वायंभुव मनु के; चरितम्—चरित्र; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; वर्णितम्—वर्णन किया गया; वर्णनीयस्य—जिनका यश वर्णन करने के योग्य है; तत्-अपत्य—उनकी पुत्री का; उदयम्—अभ्युदय; शृणु—सुनो।

मैंने तुमसे आदि सम्राट स्वायंभुव मनु के अद्भुत चरित्र का वर्णन किया। उनकी ख्याति वर्णन के योग्य है। अब ध्यान से उनकी पुत्री देवहूति के अभ्युदय का वर्णन सुनो।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “कर्म मुनि तथा देवहूति का परिणय”

नामक बाइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।